बाँग्लादेश

ओमा शर्मा

बाँग्लादेश

https://www.hindiadda.com/bangladesh/

बुजदिल होना एक सामाजिक अच्छाई है। हिम्मत और हिमाकत रखनेवालों की दूसरे बस दाद दे सकते हैं; भुगतना तो उन्हीं को पड़ता है। अब जैसे सुनीता है। देखने चलो तो उसका जीवन कितना हरा-भरा है : अतिन जैसा आकर्षक दिखता इज्जतदार पति, मानू और जुगनू के रूप में क्रमशः सात और नौ वर्ष की स्कूल जाती दो बेटियाँ, महानगर में अपने मकान के साथ दूसरे अनिवार्य निवेश, चंद सहयोगियों-मित्रों का दायरा...

मगर सुनीता अपने को बुजदिल मानती है। वरना वह पहली रात को ही अतिन से अलग हो गई होती... आखिर कौन पति सुहागरात की सेज पर दहेज की बकाया राशि के लिए कुनमुनाता है '...ए.सी. कार की बात हुई थी और नॉन ए.सी. कार दी, कैश में भी... हद होती है कंजूसी की... कहाँ ले जाएँगे... जो अपनी बेटी को नहीं दे सकता - और वह भी चार लोगों के बीच तय हो जाने के बाद... आज के जमाने में एक लैक्चरर के लिए दस लाख कोई दहेज होता है? दहेज होता है पचास लाख, एक करोड़...' वह डर गई थी। हिसाब में वैसे भी कमजोर रही है।

उस रात अपेक्षित क्रिया-कलापों को फिर भी अतिन ने यथासंभव आक्रामकता से पूरा करने की चेष्टा कर ली थी। एक अपरिचित रास्ते में रखा उसका पहला कदम न जाने कितनी अनजान आशंकाओं से बिंधा हुआ था। सुखी जीवन की कामना में उमड़ता हुआ उसका मन यहीं कुम्हला गया। मन के एक रोएँ ने वॉक आउट करने की फिल्मी-सी उड़ान भरी। मगर बुजदिली ने बचा लिया जिसने, उसकी परित्यक्ता सहेली रचना की माँ की हिदायतों की गाँठ बाँध रखी थी, '...बेटी दुनिया बदलती है, वक्त बदलता है मगर कुछ चीजें हमारे यहाँ कभी नहीं बदलती हैं और न ही बदलेंगी... उनमें एक है औरत की हैसियत... नुमाइश के लिए वह चाँद पर चली जाए मगर देहरी के भीतर वह एक देह से ज्यादा कुछ नहीं। और देह भी ऐसी जो पति नाम के पुरुष के संसर्ग से अपना निजी और सामाजिक वजूद हासिल करती है और उसी के द्वारा ठुकराए जाने पर ऐसी बासी जूठन मान ली जाती है कि उसका कोई मोल नहीं बचता...'

शुरुआत अच्छी नहीं थी मगर सुनीता बच तो गई। वैसे भी उम्र का तकाजा जेहन के छुटपुट गड्ढों को भरता-सा जाता है। अतिन कॉलिज जाते और सुनीता उनके लौटने का इंतजार करती। अतिन नहा रहे होते तो, एक मुकम्मल गृहिणी के गुमान से वह उनकी पैंट-शर्ट निकालकर रख रही होती। घर का सामान खरीदने या ऐसे ही घुमाने के लिए, स्कूटर की सीट पर बैठाकर जब अतिन कसकर पकड़ने के लिए कहते तो सब कुछ भूल-भालकर वह स्त्रीत्व के उत्साह और उल्लास से झूम उठती। अंतरंगता के

क्षणों में, अपनी तर्जनी के अधबढ़े नाखून से अतिन उसके चेहरे पर देर तक गोल-गोल बनाते रहते। दूसरे और भी सुख थे जिसकी सुनीता ने कल्पना नहीं की थी और तब, विवाह के पहले महीनों में, उसे लगता कि विवाह से पहले चाहे उन दोनों में प्रेम न रहा हो पर तृप्ति और सुख की मंजिल तो वही है।

चीजें भी कैसे और कितनी जल्दी बदल जाती हैं।

शादी के बाद पहली करवा चौथ पर सुनीता व्रत नहीं रख पाई थी। नई-नई थी, तीज-त्योहारों की खबर कहाँ रखती, सो भूल गई।

मगर अतिन नहीं भूले।

उनकी नाराजगी का ऐलान करता उनका सूजा हुआ मुँह और व्यवहार की कँपा देनेवाली सर्दी काफी नहीं हुई क्योंकि जुगनू की पैदाइश के मौके पर जब मायके में ही रहना हो रहा था तब, किसी संदर्भ के बगैर चाची ने फुसफुसाकर पूछा था, 'क्यों लाली, करवा चौथ नहीं रखी थी?' वह सकते में आ गई। तलवों से कुछ जमीन खिसकी : करवा चौथ की बात उठी कहाँ से? इन लोगों तक पहुँची कैसे?

पता तो खैर लगना ही था।

सुनीता की सफाई को एक तरफ समेटते हुए चाची बोली, 'रख लिया कर बेटी। हमें क्या फर्क पड़ता है। नई बात नहीं है। मैं न रखूँ तो आज भी तेरे चाचा ऐसे ही बिगड़ेंगे जैसे अतिन... लाली, आदमी बड़ा गरब-गहेला होता है... एक बात में मान जाय, एक में रूठ जाय... वह अपने अहं के बगैर जी नहीं सकता। और फिर तू यह भी तो देख कि आदमी का दिमाग ठिकाने रहता है तो हम लोग भी तो अपने चार नाजायज काम उनसे करवा लेते हैं...' पुरानी पीढ़ी की तरह अपनी बेड़ियों से दो-चार होने के लिए वह कभी इस तरह बारीक कातना नहीं सीख पाई।

यह ढलान की शुरुआत थी। अतिन चुप रहकर अपनी तरह से वार करने लगे थे। बस एक बार, पता नहीं कैसे, गलती से उनकी जुबान पर उन दिनों कुछ ऐसा आया जिसने उसके मन को प्लास्टिक की तरह झुलसा दिया था... 'क्या गिफ्ट लेने की रट लगाए रहती है, तू गर्लफ्रेंड है क्या?' यह उनकी तीसरी सालगिरह से पहले की बात रही होगी। मानू पेट में थी जिसके कारण उसका जी खट्टा-खट्टा रहता था। डेढ़ साल की जुगनू अपनी तरह से उलझाए रखती। वह बेताबी से अतिन के कॉलिज से लौटने का इंतजार करती और देरी होने पर रोने लग जाती। एक दिन बर्तनवाली बाई नहीं आई तो रसोई

भिनकती रही। अतिन कॉलिज से लौटे तो बिफर गए... 'तू दुनिया की अनोखी औरत है जो प्रेगनेंट हुई है... सारे डॉक्टर कहते हैं कि इस हालत में जितना हाथ-पाँव चलाते रहो उतना अच्छा... और काम नहीं करना है तो बुला ले पिताश्री के यहाँ से नौकर-चाकर... मेरे यहाँ ये चोंचलेबाजी नहीं चलेगी।' तब उसके भीतर कुछ जमकर दहका था। सुनीता और अतिन के बीच बेरुखी बढ़ रही थी। या अतिन की बेरुखी और सुनीता की निरुपायता मिश्रित घृणा।

उसकी सहेली के किसी कजिन को कॉलिज में दाखिला लेना था। इसी बाबत वह पूछताछ करने आई थी। अतिन ने खूब गर्माहट से बात की और समझाया कि किस कॉलिज में कौन-सा कोर्स ठीक रहेगा। मगर उनके जाते ही अतिन उस पर फैल गए, 'ठेका नहीं ले रखा है ऐसे लफंडरों की कंसलटेंसी का... क्या जरूरत थी इन्हें बुलाने की...।'

'अरे आप मना कर देते... उनसे तो खूब हँस-बोल रहे थे।'

'तो क्या तेरी तरह हर किसी से सड़ा मुँह करके बात किया करूँ?'

'मैंने किससे सड़ा मुँह करके बात की?'

'उस दिन जब पापा के घर गए थे तो तू किसी से ढंग से मिली थी... सब थू-थू कर रहे थे।'

यह 'उस दिन', महीने भर पहले निकला था और जो सुनीता के मन में कहीं नहीं था। सुनीता गौर करती कि अपने काम की चीजों को अतिन कितने बारीक और सम्वेदी होकर पकड़ते हैं। शुक्र था, इस बार बात जुबान पर तो आई वरना सब कुछ भीतर-ही-भीतर चलता रहता था।

'क्या किया था मैंने... जाते ही रसोई में नहीं खटने लग गई थी, यही ना... तुम जानते हो वे कौन-से दिन थे मेरे...' रास्ते में मेडिकल स्टोर पर रुकने के कारण उसे याद आया।

'तेरे तो सब दिन यही रहते हैं।'

'...' प्रतिवाद में कुछ कड़क बात उसकी जुबान पर आई मगर तालू में लिथड़कर रह गई।

उसके प्रतिवाद का अतिन के पास एक ही तोड़ था : बातचीत बंद कर लेना। उसका अपना तरीका था जो आकार ले रहा था। अतिन के कॉलिज के लिए तैयार होते समय वह नाश्ता बनाकर बाथरूम में चली जाती। लंच के वक्त सो जाती और डिनर बाद में करती। मगर दो-तीन दिन में ही उसे घर की मॉनोटॉनी छीजने लगती। मानू-जुगनू को खिलाना-पिलाना, होमवर्क और शिकायतों को अटेंड करने के बाद भी उसके पास ऐसा बहुत सारा वक्त बच जाता था जो उस निश्शब्दता के प्रति उसे कमजोर बनाता जाता था। भीतर की टूटन से किसी तरह उबरकर वह पहल करती जिसे अतिन किसी जीत के गुमान से अनसुना करते हुए अबोले बने रहते।

'आज कितनी क्लासें हैं?' वह चहककर किसी तरह सामान्य होकर पूछती।

'वही जितनी होती हैं।' वे अखबार से नजर उठाए बगैर कहते।

'टाइम से आ जाओगे?'

'देखो।'

और उन दिनों अतिन अमूमन देर से ही आते। तब उसे खयाल आता कि काश वह भी कहीं कुछ काम-काज कर रही होती तो इस जलालत को झेलने के प्रति ज्यादा ताकतवर हो जाती। अतिन का बोल-चाल बंद कर देना अब बात-बेबात होने लगा था। मानू के जन्मदिन पर केक को लेकर हो गया; एल.टी.सी. लेकर आई इंदौरर वाली मासी के जाने के बाद हो गया, रचना के फोन पर कुछ कहने के बाद हो गया।

अपना आत्म-सम्मान एक तरफ खिसकाकर पहले वह आराम से सुलह कर लेती थी, यह सोचकर कि क्या फर्क पड़ता है। घर तो उसी का है।

मगर... उसका समर्पण, समर्पण ही माना जाता जो हकीकतन था भी घर का पर्स अतिन के हाथ रहता। उनकी अनुपस्थिति में कोई चौकीदार या कामवाली बाई पैसे लेने आए तो वह उसे अगले रोज अमुक समय से पहले या देर शाम को आने के लिए कहती। सुनीता के पिता अपने घर पर अपनी तरह के तानाशाह थे मगर बटुआ माँ के हाथ ही रहता था जिससे उसकी अपनी अहमियत बनी रहती। यह एक पीढ़ी पहले की बात थी। व्यक्ति, परिवार और समाज की बदलती तस्वीर को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में समझने-समझाने की अतिन की काबिलियत को सुनीता कभी निजी संदर्भों के बरक्स समझना चाहती। मगर अतिन झिड़क देते, 'तुम हिंदी वालों की यही तो

दिक्कत है, निजता से अलग होकर कुछ सोचना-समझना ही नहीं चाहते हो। सब मौकों पर वही एक राग।'

'तुम्हारे इस फलसफे में क्या तुम्हारे पापा नहीं बोल रहे हैं।' लाख चाहने पर भी बात उसके भीतर से निकलकर अतिन के कलेजे में धँस गई। यानी संवाद समाप्त और फिर वही नारकीय गुमसुमी। मगर इस बार सुनीता ने भी जिद पकड़ी। और इस जिद की प्रेरणा थी उसकी सैंडल जो अतिन ने विंडो शॉपिंग से खरीदवाए थे। नई सैंडलों ने पाँव को तीन-चार जगह इतनी बुरी तरह छील दिया था कि हफ्ते तक उनमें पैर घुसाना दूभर हो गया। कुछ दिनों उनकी तरफ देखा भी नहीं गया। जगह-जगह काटे पैर में सूखकर जमे हुए खून की सख्त काली गाँठें बन गई थीं और अब वह, वही क्या कोई भी सैंडल पहन सकती थी।

मगर कहना होगा कि सैंडलों की प्रेरणा अधूरी रही। अतिन के चुप और आत्ममग्न रवैये के जवाब में वह चुप रह सकती थी मगर इसके दूसरे घातक परिणामों के बारे में वह तब नहीं सोच सकती थी। यह चुप्पी टूटी मानू-जगनू के पेंसिल शेयर न करने से शुरू हुए झगड़े को लेकर।

'घर बैठे तुझे इन छछुंदरों की कलेश नहीं सुनाई देती है तो इन्हें लेकर घर से चली क्यों नहीं जाती है।' उसकी पीठ पर घूँसा जड़ने के बाद फुँफकारते हुए अतिन सलाह दे रहे थे। घूँसा खाने का यह कोई पहला या आखिरी मौका नहीं था। था सबसे अप्रत्याशित। प्रहार के दंश ने उसे भीतर तक डरा दिया था। शायद इसलिए भी कि इस युद्ध में अब मानू-जुगनू भी उतार दी गई थीं। कड़क होकर दी सफाई से जब स्थिति और बिगड़ने लगी तो हारकर उसे ही माफी माँगनी पड़ी थी। और तब, रहम-सा खाते हुए अतिन ने नश्तर मारा था, 'कुतिया, कितनी बार कर चुकी है यह सब नाटक... मगर गू के कीड़े की तरह रहेगी वही की वही।'

'ये मर क्यों नहीं जाता!' सुनीता ने बड़े घुलकर दुआ माँगी थी। एक पल के लिए यह भी खयाल नहीं किया कि खुद और बच्चों की जिंदगी पर इसका क्या असर होगा। उसके मन का आवेग कहता : आए दिन एक्सीडेंट्स में जो बच्चे यतीम हो जाते हैं, क्या जिंदा नहीं रहते? कुछ-न-कुछ नौकरी तो वह कर ही लेगी। हो सकता है इसी के कॉलिज में कंपैशनेट मिल जाए। हो सकता है...

हफ्ते भर में ही उसकी दुआ आंशिक रूप से कबूल हो गई : अतिन बीमार पड़ गया। बड़ी अजीबोगरीब हालत। उसे सुबह-शाम तेज बुखार आता जो मलेरिया नहीं था मगर पूरे हफ्ते तक उसी तरह नियम से आता था। तीमारदारी के दौरान उसे लगा कि

अतिन उस पर एक बच्चे की तरह आश्रित है। और शायद वैसा ही नादान और लाचार। उसका कुछ खाने को जी न करे। मान-मनुहार करके वह कुछ देती तो उलटी कर देता। दवाइयों की प्रतिक्रिया से बीच में उसे दस्त लग गए तो उसकी हालत नीम-जिबह किए जानवर-सी हो गई। बिस्तर पर मरियल, अपलक पड़े हुए वह उसे अपने पास बैठाए रखता - दया की भीख-सी माँगता, जैसे भूल-सुधार का मूक प्रण ले रहा हो।

मगर वह कितनी गलत थी।

ठीक होने के चौथे-पाँचवें रोज उसने तंज कसा, 'हफ्ते भर बीमार क्या पड़ गया, घर पर यारों के फोन भी आने लगे। क्या खूब। सुनीता जीsss। कैसे आशिकाने अंदाज में पूछ रहा था। कौन है ये विकास निगम?' अंतिम वाक्य में बड़ी कुटिल दरयाफ्त और अतिरिक्त कड़की थी।

वह अचककर रह गई। फिर याद आया। उसकी सहेली रचना के कोई मित्र हैं जो 'समर्थ' पत्रिका में किसी को जानते हैं। कुछ रोज पहले उसने रचना से अपने लिए कैसा भी काम ढूँढ़ने की बात चलाई थी। मगर रचना ने खुद पलटकर कुछ नहीं बताया।

'मुझसे कोई बात नहीं हुई। और हाँ, मैंने एकाध जगह अपने काम करने की बात चलाई है। पार्ट टाइम जैसी। वैसे तो आजकल नौकरियाँ कहाँ हैं पर हो सकता है वहीं कहीं से... मगर इसका मतलब...'

आगे कुछ कहने तक उसका गला भर्रा गया था। इसलिए भी कि तमाम कड़वाहट, बदमिजाजी और क्षुद्रताओं के, इस तरह की तोहमत से उसका साबका नहीं हुआ था। यह एक नया कोण था। एकदम नया आयाम। एक ऐसा नजरिया जो बिना मौका दिए ही तुरंत उसकी आत्मा में खुब गया। आसमान में कड़कती बिजली की तेजी-सी एक कौंध उसके भीतर अटककर रह गई। पिछले तीन-चार साल से जब-तब उसे माइग्रेन का दौरा पड़ता था। रचना की पहल पर वह एक डॉक्टर को दिखाने गई थी जिसने निजी संदर्भों की पड़ताल के बाद उसे 'प्रोन टू डिप्रेशन' घोषित करते हुए ब्यूस्पिन, आल्प्रैक्स और ट्राइका के नियमित सेवन की सलाह दी थी और अतिन को मिलाने लाने का आग्रह किया था। अतिन ने वह आग्रह तो नहीं माना मगर डिप्रेशन को एक खास वर्ग के लोगों के वहम का कीड़ा ठहराते हुए 'ऐसा डॉक्टर, ऐसी बीमारी और ऐसी सहेली' की संगत ओढ़ने के लिए परिचित अंदाज में 'बहुत खूब' कहा था। इस बाबत मम्मी-पापा या और किसी दूसरे से बात नहीं की जा सकती थी। ले-देकर एक रचना

थी जिसके परित्यक्त जीवन में पैठी भीषण उबासियों और मनहूस जिज्ञासाओं से उसे त्रास-सा आ गया था।

मगर, महानगर में मन हल्का करने की अपनी मजबूरी थी। सुनीता की दूसरी किसी चीज की तरह रचना भी अतिन के भीतर एक सड़ांध भरी खीज पैदा करती थी जो अकसर अपनी तरह से पलट-वार कर डालती थी। दवाइयों के सेवन ने कब्ज के माध्यम से उसका वजन और, किसी रहस्यमय रास्ते से, लीबीडो बढ़ा दिया था जिससे अतिन पर उसकी निर्भरता बहुत बेशर्म तरीके से बढ़ गई थी। अतिन भी यह सब अपने ढंग से एन्जॉय करता था मगर बीमारी के इस ऑफशूट ने उसके हाथ एक अतिरिक्त परपीड़क औजार थमा दिया था। संवादहीनता, घर का काम-काज और बच्चों की देखभाल में लगातार होती कोताही के उष्ण त्रिपुट के बीच शारीरिकता के माध्यम से उस नामुराद मानसिक व्याधि से मिलनेवाली हल्की-फुल्की राहत सुनीता के लिए कम मूल्यवान नहीं थी। मगर यह एहसान भी था, जैसा अतिन ने गए रोज झाड़ते हुए उसे चेताया था, उसके भीतर किसी किरिच की तरह गड़ गया। 'यारों' के प्रयोग ने, पता नहीं किस चाल की आड़ में एक रोज पुराने 'एहसान' के साथ बड़े बचकाने ढंग से गठजोड़ कर डाला था जिसकी उपस्थिति सहलाने की बजाय उसे भीतर से सालती जा रही थी। मगर वह सँभली।

बात में नमक लगाते हुए अतिन बोले, 'ओ आई सी... तो मेमसाब नौकरी की तैयारी में हैं। वैरी गुड। बधाई हो, हमें भी तो पता चले किस कंपनी की डायरेक्टर होनेवाली है...'

'बकवास नहीं करो... मैंने तुमसे एक-दो बार कहा भी है। मुझे भी आउटिंग चाहिए... घर तो जैसा है चल रहा है और चलता ही रहेगा...'

'जो 'चाहिए' वो तो मैं काफी दिन से देख-समझ रहा हूँ।'

बात के विस्तार या उसके साथ आते खतरे से घबराकर वह बाथरूम में घुस गई थी क्योंकि ऐसी हालत में उसका पेट पतला होने लगता।

उस रोज दोनों ने आगे कोई बात नहीं की। दरवाजे पर दूध की थैली टाँगकर वह बिस्तर पर लेट गई और पूरे मामले को फिर-फिरकर समझने लगी। क्या यह सब यूँ ही चलता रहेगा? पूरी जिंदगी? बिना किसी सरसराहट या प्रतिकार के। एक तथाकथित समाजविज्ञानी के साथ ऊब, उकताहट, जिल्लत और बेचारगी से बास मारते संबंध में? 'एहसान' ओढ़ते हुए?

निर्धारित से दोगुनी 'ट्राइका' की गोलियाँ गटकने के बाद भी उसकी नींद उड़ी-उड़ी थी और उधर बाजू में औंधे पड़ा अतिन खर्र-खर्र कर रहा था। 'एहसान करता है मुझ पर' गले तक गड़े गँड़ासे की टीस पर काबू पाते हुए उसने करवट बदली। अनचाहे ही जब अतिन के चेहरे से नजर सरक गई तो घिन से सुनीता का गला भर आया और बचपन में पढ़ा रहीम का दोहा अचानक कौंध उठा : 'रहिमन लाख भलि करो अगुनी अगुन न जाय, राग सुनत पय पिअत हू साँप सहज धरि खाय।'

'समर्थ' के दफ्तर तो जाना ही होगा।

सुनीता कभी इस पहेली को नहीं सुलझा सकेगी कि निजी जीवन की कड़वाहट और घुटन से अपने तईं निजात और राहत पाने की पहली कोशिश में, कोई कारोबारी फर्म या अखबार से पहले, 'समर्थ' जैसी कगार पर अटकी साहित्यिक पत्रिका कैसे आ गई। कह सकते हैं कि बाद में यादगार या निर्णायक असर और अहमियत रखनेवाले वाकयों के अनचाहे भ्रूण में ऐसे ही नामालूम और नीरव संयोग कार्यरत होते होंगे। अपने समय में खूब लिख्खाड़ रहे मोहनदेव 'समर्थ' के संपादक-सर्वेसर्वा थे। विकास निगम ने दूसरी गैर-जरूरी अंदरूनी चीजें भी बतायी थीं।

उस दिन दोपहर के बाद यह उनसे मिलने पहुँची थी। बुद्धू की तरह सकुचाते हुए पूछने पर उनके सहायक गोम्स ने बताया था कि मोहनजी के पास अभी कुछ लोग बैठे हैं। सबके सामने नौकरी की बात चलाने से बेहतर उसे इंतजार करना लगा। मगर यह क्या, मोहनजी के दरबार में आनेवाले ज्यादा, निकलनेवाले कम। उस हूहाहा के बीच चलते रिले विमर्श की उसे क्या खबर लगती। बस, कलपते हुए इंतजार करती रही। बीच-बीच में मोहनजी, बजरंग को पानी या चाय के लिए गुहार लगा देते तो सुनीता की बेचैनी और भभक उठती।

उसने देखा कि घर से निकले उसे चार घंटे से ऊपर हो रहे थे। उसके न रहने के बच्चे अभ्यस्त नहीं थे। अतिन को एक-दो फोन करके बच्चों ने कुछ रो-धो दिया हो तो नया कलेश शुरू हो सकता था। सुनीता को लेखकों के निठल्लेपन पर गुस्सा आने लगा। कितने फालतू हैं ये लोग जिन्हें वक्त की पाबंदी का जरा अहसास नहीं। गप्प करने से कुछ होता है क्या? गोम्स के पास जाकर, मन मसोसकर, अपराधी की तरह हौले से बोली, 'कल आऊँ क्या?' किसी गुमशुदा कागज को ढूँढ़ती बदहवासी के बीच, बिना सिर ऊँचा किए, उसने बड़ा शुष्क होकर पूछा, 'आपको काम क्या है?'

'काम तो उन्हीं से है।'

अपने मन की परत को भरसक सहेजते हुए सुनीता ने भी जड़ दिया। उसकी तरफ मिन्नत से टकटकाने के बाद अनचाहे ही वह गोम्स से फुसफुसाई, 'कल आना ठीक रहेगा?' अपने सवाल का उत्तर न दिए जाने पर अपमान से बुझे स्वर से उसने टरकाया, 'आप देख लीजिए... वैसे यहाँ तो रोज यही चलता है।'

'अभी कितनी देर में फ्री हो सकते हैं?' संशय और हताशा से भरे गले से उसने आखिरी चांस लेने की मरियल हिम्मत जुटाई।

'इसके बारे में कुछ नहीं कह सकते हैं... लेखक लोग हैं, चलना चाहें तो झोला उठाकर चप्पल चढ़ाने में एक मिनट न लगाएँ, और बैठने बैठें तो उनकी बला से ट्रेन भी छूट जाए।' बात कड़वी थी मगर अचानक सुनीता को गोम्स समझदार लगने लगा। मोहनजी के कमरे में पीछे से थोड़ा झाँककर वह लौट आई और सीधे घर।

यह दुनिया कितनी बीहड़ है, वह जानती थी मगर इसका सही पता आज चला। भागते हुए उसने जो बस पकड़ी थी उसमें रास्ते भर बैठने को नहीं मिला। दस बरस पहले जब यूनिवर्सिटी आना-जाना होता था, तब की और बात थी। उम्र थी, शायद आदत भी। फिर, घर बैठे-बैठे इस दरम्यान चढ़ आई आठ किलो अतिरिक्त चर्बी, जो धकापेल और गंध के बीचोबीच कुछ अज्ञात उँगलियों के दबावों और संदेशों को उस हालत में भी महसूस कर पा रही थी। घर पहुँचने तक घुटनों के नीचे से खून-सा उतर आया था। ढलती अगस्त की उमस ने पूरे बदन को इस कदर चिपचिपा दिया था कि लग रहा था अगले पल पस्त होकर गिर जाएगी। घर पहुँची तो बच्चों के कौतूहल में सनी मासूम आत्मीयता ने थकान हल्की कर दी। उस शाम अतिन ने एक बार और नहीं कोंचा होता तो शायद वह मोहनजी से अगले रोज मिलने का हौसला नहीं जुटा पाती।

'जब तेरे पढ़ने के दिन थे तब तो मटरगश्ती कर रही थी और आज इस बुढ़ापे में नौकरी करने चली है... किसी पत्रिका की प्रूफरीडरी मिल भी गई तो कितना कमा लेगी?'

किसी बात में उतनी घृणा नहीं होती है जितना उसके कहने का अंदाज जगा देता है। यह ऐसी ही बात थी। प्यार हमें एक सीमित दायरे में ही प्रोत्साहित करता है; घृणा हमें अपनी सीमाओं के अतिक्रमण के लिए उकसाती है। अचानक, उसके भीतर मोहनजी से मुलाकात के लिए निरर्थक इंतजार की खटास हल्की हो गई।

अगली दोपहर वह फिर उनके दरबार में थी।

गोम्स ने मौका देखकर उसे अंदर ठेल दिया।

'जी नमस्ते, मेरा नाम सुनीता है।'

तरह-तरह के पत्रों, पांडुलिपिनुमा सामग्री, पत्रिकाओं और ऐश-ट्रे के पास रखी कुछ किताबों के बेतरतीब ढेर से पलभर गुजरने के बाद मोहनजी ने नजर उठायी और नितांत अजनबीपन से पूछने लगे, 'जैनेंद्रजी से आप कब मिलीं?'

'जी...जी मैं उपन्यास की नहीं, सच्ची की सुनीता हूँ।'

किसी तरह उनकी बात का सूत्र पकड़कर वह कह गई।

'उपन्यास तो सच्ची का है।'

उसे समझ आने लगा कि मोहनजी के यहाँ क्यों दरबार लगा रहता है : बात से बात निकालकर जिरह करने का नतीजा और क्या हो सकता है। अपने ऊहापोह में दबी-जकड़ी वह यह खेल कैसे खेलती, सो चुप रही।

'कहिए, कैसे आना हुआ?'

सुनीता की चुप्पी देखकर मोहनजी अचानक ही काम की बात पर आ गए तो उसे राहत मिली।

'जी, आपके साथ काम करना चाहती हूँ।'

पता नहीं कैसे 'यहाँ' की जगह वह 'साथ' कह गई।

'वो किस खुशी में?' वे दो टूक थे। सचेत भी।

'खुशी आपकी नहीं मेरी है... आपकी पत्रिका की प्रतिष्ठा है, आपको भी पढ़ा-सुना है और फिर मेरी जरूरत है।'

उस जगह का ही दोष होगा जो वह आत्मविश्वास से अपनी बात कहते हुए आखिर में मुस्कुरा भी दी।

'वो तो ठीक है मगर हमें जरूरत भी तो होनी चाहिए।'

'मुझे बताया गया था कि आपको जरूरत है।'

'किसने बताया?'

'इससे क्या फर्क पड़ता है।'

'नहीं है, जरूरत है ही नहीं, फिर हम आपको ज्यादा दे भी नहीं पाएँगे।'

'यह आप कुछ और कह रहे हैं।'

सीधे-सीधे सवाल-जवाबों का सिलसिला यहाँ आकर ठिठका। वे उसे गौर से देखने लगे। पुरुषों की नजरों में छिपी नीयत को सुनीता अनदेखा करने के अभिनय के दौरान भी जान जाती है। उसे खुशी हुई कि उनमें एक रहमदिली थी।

कुछ सोचकर उन्होंने बजरंग को वही गुहार लगाई जिसे सुन-सुनकर कल उसके कानों में गर्म तेल-सा लग रहा था।

'बैठिए।'

'जी।'

'आप क्या करती हैं?'

'जी करनेवाली हूँ।'

'मेरा मतलब है क्या कर रखा है, मतलब पढ़ाई वगैरा...'

'यूनिवर्सिटीज के प्रति जो आपका नजरिया है उसके लिहाज से तो कुछ भी बताना कसूर लगता है... वैसे दस बरस पहले एम.ए. किया था, फिर अनुवाद का डिप्लोमा...'

'ये अच्छा हुआ कि आपने पी-एच.डी. नहीं की वरना...।'

यानी बात बन-सी रही है।

गोम्स को बुलाकर उन्होंने एक प्रूफ-शीट चेक करने को दी ताकि लगे हाथों मामला साफ हो जाए। दो शब्दों ने बाजी सुनीता के पक्ष में कर दी : 'रोशन' की जगह 'रौशन' ने और 'षड़यंत्र' की जगह 'षड्यन्त्र' ने। सुनीता के लगाए एक-दो अर्धविरामों को उन्होंने खारिज कर दिया - यह कहते हुए कि सैद्धांतिक रूप से सही होते भी वे गैर-जरूरी हैं क्योंकि हिंदी में अर्धविराम लगाने की परंपरा सख्त नहीं है।

एक पार्ट टाइमर के तौर पर उसे तुरंत काम शुरू कर देना था।

लेखक लोग सुनीता को रोमांचित करते रहे थे। कोई कहानी-उपन्यास कैसे लिख लेता है? क्या ये लोग नौकरी नहीं करते, बीवी-बच्चों की जिम्मेदारी नहीं सँभालते। पारिवारिक और सामाजिक लेन-देन की समस्याएँ इन्हें तंग नहीं करतीं? फिल्म, टी.वी., घूमना-फिरना और मौज-मस्ती इन्हें अच्छी नहीं लगती? सुना है उपन्यास लिखने में कई बरस लग जाते हैं, तो इतने दिन कैसे साधते होंगे उसके सूत्रों को अपने जेहन में। उसे तो कोई चिट्ठी लिखनी पड़े तो सोचना पड़ता है और ये लोग पोथी लिख डालते हैं। कैसे? जरूर कोई ईश्वर का आदेश होता होगा।

लेखकों के प्रति वह इसी तरह के खयालों से सराबोर थी मगर मोहनजी के 'समर्थ' में तीन महीने काम करते हुए उसकी आँखों से पर्दा उठ गया था। वहाँ आनेवाले ज्यादातर लेखक छपास के मरीज होते जो 'समर्थ' में अपनी रचना छपवाने के लिए मोहनजी की चिरौरी करते दिखते। बड़ी-बड़ी बौद्धिक बहसों के दरम्यान ही वे उनसे इस बाबत इसरार करना नहीं भूलते। दूर-दराज बैठे लेखक मोहनजी से अपेक्षा रखते कि उनकी रचना मिलते ही, 'समर्थ' के बाकी काम एक-तरफ करके मोहनजी ने उसे कंठस्थ कर लिया होगा और वे किसी भी वक्त उसकी बारीकियों पर चर्चा करने के लिए मचल रहे होंगे। बेचारे मोहनजी! कभी फोन पर खाँसने का नाटक करते हुए अपनी नासाज तबियत का बहाना करते तो कभी गोम्स की आड़ लेते। कभी तो सरेआम झूठ बोल देते कि रचना मिली ही नहीं है। मगर लेखक इससे जरा हतोत्साहित नहीं होते और फौरन उन्हें दूसरा कूरियर करते। पुस्तक समीक्षा को लेकर महान सिद्ध कर दिए जाने की लेखकों को ऐसी पड़ी थी कि या तो पुस्तक के साथ इति सिद्धम करती समीक्षा नत्थी कर देते या 'समर्थ' से समीक्षक का पता लगाकर उससे संपर्क साधते। जिन लोगों के हुनर ने सुनीता को लुभाया था, उनकी हकीकत पर अब वह हँसती थी। थोड़ा सन्तोष तो उसे था मगर अपनी जहर से भरी निजी दुनिया से राहत पाने के जिस विकल्प को वह ढूँढ़ रही थी, वह तो छका ही रहा था। हर अंक के प्रूफों से तीन-तीन बार गुजरना... आध्यात्मिक बलात्कार जैसा लगने लगा था। पत्रिका की आर्थिक स्थिति अब डूबी कि तब डूबी जैसी थी। अपने संबंधों का भरसक इस्तेमाल करके मोहनजी किसी जिद की तरह इसे निकाले जा रहे थे। अभाव और अंकुशों के बीच से अपना रास्ता बनाती यह दुनिया खुली-खुली तो थी मगर सलाखों की पुख्ता अदृश्य हदों के भीतर-भीतर ही।

और तभी, किसी टूटे तारे की तरह संदीप साइलस...

एक चर्चित लेखक के तौर पर सुनीता ने उनका नाम सुन रखा था। कुछेक कहानियाँ भी पढ़ रखी थीं। मध्यवर्गीय कस्बाई मानसिकता के नैतिक संस्कारों पर फिर-फिर

हल्ला बोलती उन कहानियों के लेखक की उसके जेहन में बड़ी रोमांटिक छवि थी जो, पता नहीं क्यों, उनकी वास्तविकता के एकदम बेमेल थी। पिछले माह 'समर्थ' में प्रकाशित उनकी कहानी 'दुनिया गोल है' के साथ छपे फोटो के मुकाबले कहीं ज्यादा प्रौढ़ और कमजोर। सामूहिक चर्चा में वे कभी-कभार और धीमे बोलते, ज्यादातर हाँ-ना में सिर हिलाते। असहमति में कुछ कहना हो तो वे 'आप खुद ही देख लीजिए' या 'नहीं, थोड़ा फर्क है' जैसा कुछ कहकर अपनी बात रखते। गए सप्ताह से उनका 'समर्थ' के दफ्तर आना हो रहा था। क्या कहानी की प्रतिक्रियाएँ जानने के लिए, या 'समर्थ' के लिए कुछ विशेष सामग्री जुटाने?

जो भी हो, उस दिन मोहनजी थोड़ी देर से आनेवाले थे जो उन्हें पता नहीं था। इसलिए सुनीता को उनसे बात करने का मौका मिल गया था। विश्वविद्यालय में उनका अध्यापक होना दिल तोड़ने वाली बात थी मगर समाजशास्त्र की जगह उनका अर्थशास्त्र कहना तसल्ली से ज्यादा राहत की तरह लगा क्योंकि अतिन ने एक बार बताया था कि अर्थशास्त्र की आढ़ी-टेढ़ी स्थापनाएँ और बोझिल अवधारणाएँ उसे कभी रुचिकर नहीं लगीं। शायद यही बात उनकी फ्रेंच कट दाढ़ी के बारे में सच थी जिसे देखकर उसे खयाल आया था कि वह अतिन के किसी अदावती से मिल रही है। रंगरूप और चाल-ढाल में वे थे भी काफी अतिन जैसे। बस थोड़े नाटे और गदबदे। संदीपजी की कहानियों की उसकी पसंद अचानक किसी अंतरंगता में बदल गई। थोड़े अन्यमनस्क मगर उसकी तरह वे भी उस झेंप की गिरफ्त में थे जो किसी अजनबी से बातचीत में अधिकांश लोगों को रहती है। फिर भी उनके भीतर छिपा वह रोमांटिक सुनीता ने ढूँढ़ लिया था जिसके ऊपर उनकी उदास आँखें पर्दा डाले रहती थीं या जो, लिखने के दौरान दो-चार कहानियों में उतरकर वहीं से कहीं छूमंतर हो गया था।

उन दोनों के बीच एक 'खेल' चल निकला था। सुनीता के लिए वे एक प्राइज्ड कैच होते जा रहे थे। 'समर्थ' का दफ्तर घुटन पैदा करता था। वे उससे 'सेफ आवर्स' में अकसर बतियाने लगे थे। वे बताते कि हर लेखक के लिए बर्गमैन, कुरूसोवा, गोदार और डिसिका की फिल्में देखना क्यों जरूरी है। महाभारत की उपकथाओं को बड़ी तार्किकता से दूसरे विश्वयुद्ध के संदर्भों से जोड़कर वे बताते कि मानवीय तहस-नहस अनजाने ही किस तरह अकूत कलात्मकता में अवशोषित हो जाती है। वह पूछती कि समकालीनता के बदलते परिदृश्य में लेखक को अपने औजारों पर कैसे सान चढ़ानी होगी तो ज्यां काक्तू नाम के फ्रांसीसी लेखक-फिल्मकार का उद्धरण देते हुए वे समझाते कि कला और चेतना में क्या फर्क होता है। बारीकी से कथा में बुनी आयरनी की कलात्मक मिसाल के लिए वे हेनरिक ब्योल की 'लाफ्टर' का जिक्र करते और कला

की भविष्यसूचक महत्ता के लिए पिकासो की 'गुएर्निका' के बारे में जगजाहिर राय का खंडन करते हुए बताते कि उसका शुरुआती स्कैच तो स्पेन के गृहयुद्ध से काफी पहले बना दिया गया था। 'लकी' पर चाय पीते वक्त जब उन्होंने बताया कि औरतें अमूमन आदमी से दो गुना ज्यादा पलक मारती हैं और गिरगिट अपनी दोनों पुतलियों को एक साथ विपरीत दिशाओं में घुमा सकता है तो उसे लगा कि वन-टू-वन होते ही उनके भीतर कहीं ज्यादा आत्मविश्वास और जीवंतता आ जाती है। उम्र और हैसियत में बड़ा होने के कारण वे एकालाप की हद तक अपने को खोलते जाते और यह सब (हाय!) अतिन की घुन्नी और सपाट भंगिमा के आगे कितना मोहक और दिलकश था। उसे तो खैर ज्यादा वास्ता नहीं था मगर कला-कलाकारों की दुनिया को संदीपजी की मार्फत ऐसी निर्लिप्तता से जीते देखना उसकी निजी जिंदगी की टूटन और छटपटाहट को विस्मृत-सा कराता जाता था।

शुरुआती कौतूहल छँट जाने के बाद, एक ही समय समाज में अनेकानेक आड़ी-टेढ़ी, पूरक, विपरीत, स्वतंत्र और एक-दूसरे से बेखबर दुनियाओं की मौजूदगी पर उसे हैरानी होती। तंत्र में अर्थ की ताकत को प्रामाणिक मगर तकनीकी क्लीशेज में बगैर उलझाये पकड़ने के मोहनजी के आग्रह को मानते हुए वे उनसे शेयर बाजार में 'फ्यूचर्स' और 'ऑप्शंस' नाम के सांडों पर सटोरियों और विदेशी खिलाड़ियों की दुरभिसन्धि और पूँजीगत मनमानेपन की चर्चा कर रहे थे। और यह सब, मोहनजी के कमरे की खुली किवाड़ों से उस तक रिसकर आ रहा था। उन चीजों को कहानी के फ्रेम में ढालने की ऊहापोह को अपनी जाती जिम्मेदारी मानते हुए वे अर्थतंत्र की जटिलताओं को किसी विचारधारा के चश्मे से दूर रखे जाने की ताकीद करते लग रहे थे। कई बार सुनीता के मन में खयाल आता कि मौका मिला तो उनसे पूछेगी कि उनके जीवन में क्या कुछ अँधेरे कोने हैं जो उन्हें लेखन की दुनिया में इस कदर ईमानदार बने रहने के लिए प्रेरित करते हैं। या फिर सुनीता के प्रति भी बढ़ती संवादपरकता! जो चाहे लाख उसकी पहल पर शुरू हुई, मगर उसमें शामिल होने में कोई बेमनापन तो उनमें नहीं ही था। क्या वह सुनीता की तलाश थे? शायद।

मगर सुनीता इस गुमान से भी भरने लगी थी कि घर की एकरसता और अतिन के एहसानों के बावजूद कोई उसके लिए तमन्ना लिए रहता है, उसकी मुस्कराहट को 'तनूजा' के साथ जोड़कर देखता है और तमाम बौद्धिक भागदौड़ के बीच उसे इस काबिल मानता है कि अपनी निजी ऊहापोह भी उसके साथ बोल-बाँट ले। उस दिन 'समर्थ' के दफ्तर से निकलकर जैसे ही वह बस स्टैंड की तरफ जानेवाली सड़क पर मुड़ी वे इंतजार करते मिल गए। चाय पीने का भी वक्त नहीं था। न उन्होंने उत्साह

दिखाया। वहीं बस स्टैंड पर खड़े होकर बातें करने के दौरान कहने लगे... 'फ्रायड ने कब का स्थापित कर दिया था कि यह दुनिया और मानवीय स्वभाव बुराइयों का डेरा है। अच्छाई एक टापू है और बुराई उसके पास पसरा, अतिक्रमण का उछाह भरता बेपनाह समुद्र... उससे लड़ा नहीं जा सकता है, ज्यादा-से-ज्यादा उससे बचकर चला जा सकता है...'

क्या हुआ इन्हें आज? मोहनजी ने कुछ कह दिया या किसी ने कहीं तीखी समीक्षा कर दी? अपनी बात कर रहे हैं या खुद सुनीता की? जो भी हो, सुनीता को अच्छा लगता कि किसी पीर-सिद्ध की तरह अपनी बात को वे किसी संदर्भ में रखकर ही पेश आते थे न कि अतिन की तरह अपनी खुदगर्जी में औंधे पड़े रहकर।

सुनीता के लिए यह सब 'अतिरिक्त' था। यानी जो नहीं भी होता तो भी उसे वह पहला कदम उठाने से नहीं रोक सकता था जो बाबरी मस्जिद टूटने की वर्षगाँठ पर उसने उनकी तरफ बढ़ाया था। महीने भर से ज्यादा के आपसी संवाद ने बहुत सारे बीहड़ पहले ही छाँट दिए थे। किसी धधकती चाहत को घेर-घारकर, सांकेतिक रूप से जुबान पर लाते हुए उसका दिल अजीब तरह से फिर भी धड़के जा रहा था।

उन्होंने कोई दोमुँहापन नहीं दिखाया, 'और जगह?' थोड़े संशय से पूछा। बस।

'दोपहर बाद घर पर मैं अकेली होती हूँ।'

'नहीं, घर ठीक नहीं रहेगा... और वैसे भी उसकी एक विवाहगत पवित्रता होती है।'

उनकी सोच की मासूमियत उसे छू गई थी मगर कहना पड़ा, 'क्या जगह भी पवित्रता निर्धारित करती है?'

'फिर भी।'

उनकी अनकही भी बहुत कुछ कह रही थी। और दस दिन बाद, यानी सोलह दिसंबर को वे दोनों उनके किसी मित्र के गेस्ट हाउस में थे।

नहीं, वह नहीं बताएगी कि उस दिन कैसा लगा था जब... बस स्टैंड की भीड़ को धता बताकर उन्होंने सरेआम कैसे उसे अपने आगोश में कसा था, शहर के जंगली, नीम-सुनसान इलाकों की वह लांग ड्राइव, बियाबान गेस्ट हाउस में एक-दूसरे के मुँह से पिये ड्रिंक्स की मदहोशी का जादू... या बेगानी हुई अपनी काया की गुमनाम तली से मथकर उन्होंने वह गुमशुदा औरत कैसे पेश कर दी जो उनकी एक-एक अभिनव

छुअन और सिहरन को दोगुने उत्साह और आवेग से हवा दे रही थी। जिस्म ही थे जो लगातार उस अनसुने, अनिर्वचनीय प्रदेश की सैर कर रहे थे, मगर सिर्फ जिस्म या जिस्म-भर नहीं। जिस्म उस सैरगाह का अनिवार्य प्रवेश-द्वार थे। प्रवेश-द्वार कितना ही भव्य हो, वह सैरगाह की अहमियत में शामिल नहीं हो सकता।

बड़ी देर तक यूँ ही निढाल पड़े रहने के बाद उन्होंने करवट बदली और उसे बाँहों में समेटकर बेध्यानी में सहलाते हुए बोले, 'आज सोलह दिसंबर हुआ ना!'

'हाँ, तो?'

'अरे भई, आज के दिन बाँग्लादेश आजाद हुआ था।'

सोलह दिसंबर और बाँग्लादेश के जिक्र ने उसे जिन्ना की मजार पर सलामी देने के अंदाज में तने खड़े जनरल अरोड़ा की याद दिला दी। किसी ने बताया था। क्या सोच रहे थे उस समय जनरल अरोड़ा? किसी ने इन लफ्जों की ही फुसफुसाहट सुनी थी जो संदीपजी से आज हुई मुलाकात के बाद उसके जेहन में खनखनाए जा रहे थे : कायदे आजम, हमने आपके एहसानों का कर्ज उतार दिया है।